दैनिक भास्कर

Date: 16-11-24

आबादी के अनुपात में मधुमेह रोगी क्यों बढ़ रहे?

संपादकीय

पिछले तीन दशकों में भारत में डायबिटीज के रोगियों का प्रतिशत दूना हो गया है जबकि इस दौरान तमाम पैमानों- शिक्षा, आय, स्वास्थ्य संरचना - आदि पर काफी विकास हुआ है। लांसेट के ताजातरीन अध्ययन के अनुसार 'बगैर इलाज मधुमेह रोगियों की संख्या में भारत दुनिया की राजधानी बन गया है। वर्ष 2022 के आंकड़ों पर आधारित इस रिपोर्ट के अनुसार भारत का लगभग हर चौथा व्यक्ति (21.2%) इस बीमारी से पीड़ित है। चिंता इस बात की है कि इन तीन दशकों में इलाज कराने वाले मरीजों के प्रतिशत में मात्र 5-8 की वृद्धि हुई है। दुनिया के देशों के बीच आर्थिक असंतुलन को लेकर आरोप लगाए जाते हैं और गरीब-अमीर की बढ़ती खाई पर सरकारों की निंदा की जाती है लेकिन मधुमेह जैसी बीमारियों के पीछे सामाजिक चेतना की बड़ी भूमिका है। असंतुलित भोजन, शारीरिक श्रम के अभाव वाली जीवन-शैली इस रोग को बढ़ाने में बड़े फैक्टर हैं। आबादी के अनुपात में जापान, कनाडा, फ्रांस, स्पेन, चीन में कम लोग इस बीमारी के शिकार हैं। सिंगापुर, जापान, दक्षिण कोरिया में अच्छा स्वास्थ्य सुनिश्चित करने को लेकर सरकारें मदद करती हैं। रिपोर्ट के अनुसार दुनिया में पिछले तीन दशकों में इस बीमारी के रोगियों का प्रतिशत पुरुषों में 6.8 से बढ़कर 14.3 और महिलाओं में 6.9 से बढ़कर 13.9 हो गया है, जबकि भारत में यह क्रमशः 11 से 21 और 12 से 24 हो गया है।

दैनिक जागरण

Date: 16-11-24

राजनीतिक दलों में आंतरिक लोकतंत्र का अभाव

राहुल वर्मा, (लेखक सेंटर फार पालिसी रिसर्च में फेलो एवं राजनीतिक विश्लेषक हैं)

समकालीन भारतीय राजनीति में दलबदल एक ऐसी दलदल है जिसमें लगभग हर कोई राजनीतिक दल धंसा हुआ है। ज्यादा दूर न जाएं तो चाहे अप्रैल से जून तक चले लोकसभा के चुनाव हों या बीते दिनों हुए हरियाणा और जम्मू-कश्मीर के विधानसभा चुनाव से लेकर इन दिनों चुनावी प्रक्रिया का सामना कर रहे महाराष्ट्र-झारखंड का उदाहरण लें तो कुछ नेताओं को लेकर आपको

दुविधा हो सकती है कि वे इन दिनों किस पार्टी के साथ जुड़े हैं। दोनों राज्यों में सभी दल असंतुष्ट और बागी प्रत्याशियों से जूझ रहे हैं। असल में नेताओं और दलों ने दलबदल को इतना सामान्य बना दिया है कि मानो यह कोई मुद्दा ही नहीं है। हालांकि ऐसा है नहीं। चाहे नैतिकता का तकाजा हो या फिर आदर्श राजनीतिक व्यवस्था की बात करें तो दलबदल की यह परिपाटी राजनीतिक तंत्र में भरोसे और विश्वसनीयता का सवाल निश्चित रूप से उठाती है। इस बहस में पहला प्रश्न तो यही कौंधता है कि आखिर हमारी व्यवस्था में यह सिलसिला क्यों कायम है? इसके उत्तर की पड़ताल करें तो उसमें राजनीतिक एवं चुनाव सुधारों का अभाव दिखेगा। हमारे कुछ नेताओं की निहित स्वार्थ से प्रेरित वह मानसिकता भी इसके मूल में है जो किसी भी स्थिति में सत्ता में भागीदार न सही तो कम से कम उसके करीब जरूर रहना चाहती है।

दलबदल अमूमन दो तरह से होता है। एक तो चुनाव से पहले और दूसरा चुनाव के बाद। स्वाभाविक है कि चुनाव में टिकट से वंचित रह जाने की स्थिति में लोग पाला बदल लेते हैं। हालांकि इसके उतने खतरे नहीं, क्योंकि चुनाव से पहले ही मतदाताओं के समक्ष स्थिति स्पष्ट रहती है कि कौन किसके पाले में है। दोनों स्थितियों में चुनाव बाद होने वाला दलबदल कहीं अधिक गंभीर प्रकृति का है, क्योंकि उसमें मतदाताओं के साथ छल होने का जोखिम अधिक रहता है। शायद यही कारण रहा कि चुनाव बाद होने वाले दलबदल पर अंकुश के लिए वर्ष 1985 में राजीव गांधी सरकार ने दलबदल निरोधक कानून बनाया, जिसे 2002 में अटल बिहारी वाजपेयी सरकार ने और सशक्त बनाने का काम किया। इससे चुनाव बाद दलबदल की समस्या का कुछ हद तक समाधान अवश्य हुआ, लेकिन उसका पूरी तरह निराकरण नहीं हो पाया। नेताओं ने इसका भी तोड़ निकाल लिया है। चूंकि दलबदल के लिए एक निश्चित संख्या की आवश्यकता होती है तो उसका बंदोबस्त करने के बाद अब यह कहीं अधिक संस्थागत रूप से होने लगा है। यहां तक कि निर्वाचन के बाद जनप्रतिनिधियों द्वारा सदन की अपनी सदस्यता से इस्तीफा देकर बहुमत के आंकड़े को ही विरूपित कर दिया जाता है। उसके बाद उपचुनाव से चुनावी प्रक्रिया और भी बोझिल होने लगी है। वहीं एक साथ मिलकर चुनाव लड़ने वाले गठबंधन के दल भी जब सत्ता की खातिर अपनी राह अलग कर लेते हैं तो वह भी जनमत और जनादेश के साथ एक प्रकार का छल होता है।

दलबदल की समस्या समय के साथ और विकराल हुई है तो उसके सबसे अधिक दोषी हमारे राजनीतिक दल हैं। छोटी पार्टियां तो निजी जागीरों की तरह चलाई ही जा रही हैं, मगर बड़े दलों की स्थिति भी बहुत अच्छी नहीं। बड़ी पार्टियों का नेतृत्व भी हद से अधिक केंद्रीकृत हो चला है। आंतरिक लोकतंत्र भी आदर्श अवस्था में नहीं है। प्रत्याशी चयन की सुनिश्चित प्रक्रिया नहीं है। टिकट वितरण में पार्टी कार्यकर्ता की कर्मठता एवं समर्पण सरीखे पहलू अक्सर गौण हो जाते हैं। उसमें केवल जिताऊ कोण पर ही पूरा जोर दिया जाता है। ऐसे में निष्ठावान कार्यकर्ताओं को किनारे करके धनबल, बाहुबल और जातीय-धार्मिक पहलुओं को प्राथमिकता दी जाने लगी है। खासतौर से चुनाव जितने खर्चीले होते जा रहे हैं, उसे देखते हुए धनबल की महत्ता बढ़ती जा रही है। ऐसे में धनाढ्य प्रत्याशियों को तरजीह मिलने लगी है। ऐसे दावेदारों को अगर कुछ कारणों से अपने दल से टिकट नहीं मिलता तो प्रतिद्वंद्वी दल उन्हें हाथोंहाथ अपना लेता है। कई मामलों में यह भी देखा गया है कि दल की सदस्यता लेने के पांच मिनट में ही उक्त व्यक्ति को पार्टी द्वारा प्रत्याशी घोषित कर दिया जाता है। आधे घंटे पहले तक किसी के पक्ष में रैली कर रहा नेता एकाएक दूसरे दल के मंच पर पहुंचकर उसकी पैरवी करने लगता है। यह भारतीय राजनीतिक परिदृश्य की विडंबनाओं को ही उजागर करता है।

दलबदल पर विराम लगाने के लिए कोई कानूनी पहल अनिवार्य रूप से कारगर नहीं हो सकती। दलबदल निरोधक कानून के दुष्परिणामों को ही देख लीजिए। उसके लागू होने के बाद जनप्रतिनिधियों के व्यक्तिगत अधिकार बहुत सीमित हो गए हैं कि कई मुद्दों पर वे अपना पक्ष भी नहीं रख सकते। कई राजनीतिक प्रेक्षक इस स्थिति की व्याख्या ऐसे करते हैं कि

दलबदल निरोधक कानून लागू होने के बाद जनप्रतिनिधि एक प्रकार से राजनीतिक दलों के 'बंधुआ' बनकर रह गए हैं। इसलिए बेहतर यही होगा कि जनता स्वयं इस मामले में जागरूक होकर राजनीतिक दलों को जिम्मेदार एवं जवाबदेह बनाने के लिए बाध्य करे। सभी दल हमारी राजनीतिक व्यवस्था से जुड़ी ढांचागत कमियों को दुरुस्त करने का काम करें और अर्से से लंबित राजनीतिक एवं चुनाव सुधारों की दिशा में कदम बढ़ाएं।

अमेरिका और पश्चिमी यूरोप के देशों से इस मामले में कोई सीख ली जा सकती है। हमारे राजनीतिक दल पश्चिम की सुगठित एवं सुव्यस्थित राजनीतिक व्यवस्था के सकारात्मक बिंदुओं को आत्मसात करते हुए आगे बढ़ सकते हैं। इसमें प्रत्याशी चयन की प्रक्रिया से लेकर चुनावी फंडिंग और राजनीतिक समायोजन की व्यवस्था को बेहतर बनाया जा सकता है। हालांकि ऐसा नहीं है कि पश्चिम के परिपक्व लोकतांत्रिक देशों में दलबदल जैसी कोई समस्या नहीं, लेकिन वह इतनी विकराल नहीं है। वहां नेताओं से लेकर राजनीतिक दल अपने वैचारिक आग्रह को लेकर खासे मुखर रहते हैं और विचारधारा की राजनीति ऐसी नहीं कि उसे एकाएक केंचुली की तरह बदल दिया जाए। जबकि भारत में विचारधारा की पालकी ढोने का दावा करने वाले नेता भी इस मामले में उसे कपड़ों की तरह बदल लेने से परहेज नहीं करते। ऐसे में यदि विचारधारा, आंतरिक लोकंतत्र और प्रत्याशी चयन की प्रक्रिया को पारदर्शी बना दिया जाए तो दलबदल की बेलगाम होती समस्या पर एक बड़ी हद तक अंकुश लगाया जा सकता है।

Date: 16-11-24

सहकारी संघवाद की भ्रामक अवधारणा

एम गोविंद राव , (लेखक 14वें वित्त आयोग के सदस्य और एन आईपीएफपी के निदेशक रह चुके हैं। लेख में उनके निजी विचार हैं)

भारतीय संघ को लेकर गंभीर अध्ययन करने वाले विद्वान अक्सर उसे 'सहकारी संघवाद' वाला देश कहते हैं। इस बारे में गत 10 नवंबर को सेवानिवृत्त हुए देश के मुख्य न्यायाधीश डी वाई चंद्रचूड़ ने 26 अक्टूबर को मुंबई में दिए एक भाषण में दिलचस्प बातें कही थीं। उनके आधार पर हमें यह देखना चाहिए कि हम भारतीय संघवाद को किस दृष्टि से देखते हैं।

यह कहते हुए कि 'सहकारी संघवाद' भारत के लोकतांत्रिक शासन के मूल में नहीं है, उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि हमारे यहां राज्य सरकारों के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वे केंद्र सरकार की नीतियों का पूरी तरह अनुकरण करें। उन्होंने सर्वोच्च न्यायालय के 1977 के निर्णय का हवाला दिया जिसमें कहा गया था कि भारत में संघवाद का मॉडल 'बुनियादी तौर पर सहकारी है जहां केंद्र और राज्य अपने मतभेदों को विचार विमर्श के जरिये दूर करते हैं और साझा विकास लक्ष्यों को हासिल करते हैं।' उन्होंने कहा कि संघीय सिद्धांतों को चर्चा और संवाद के जरिये आगे बढ़ाना चाहिए और सहयोग तो इन्हें बरकरार रखने का एक जरिया भर होना चाहिए। इसके अलावा चर्चाएं भी समान रूप से महत्त्व रखती हैं जो एक सिरे पर सहयोग तो दूसरे सिरे पर प्रतियोगिता तक विस्तारित हो सकती हैं। एक स्वस्थ लोकतंत्र के लिए दोनों आवश्यक हैं। निश्चित तौर पर प्रतियोगिता में प्रतिस्पर्धा भी शामिल हो सकती है।

'सहकारी संघवाद' शब्द को अक्सर अकादमिक मान लिया जाता है, भले ही ऐसा न हो। इसे परोपकारी राज्य की अवधारणा के साथ जोड़कर देखा जाता है। अल्बर्ट ब्रेटन नामक अर्थशास्त्री जो रॉयल कमीशन ऑन द इकनॉमिक यूनियन ऐंड डेवलपमेंट प्रॉस्पेक्ट्स ऑफ कनाडा के सदस्य भी थे, वह बार-बार दोहराए जाने वाले इस शब्द को लेकर उत्सुक रहते थे। उन्होंने इस विषय पर विचार शुरू किया कि क्या विभिन्न इकाइयों के बीच क्षैतिज और उर्ध्वाधर हस्तक्षेप वास्तव में सहकारी तथा प्रतिस्पर्धी थे। उन्होंने इस विषय पर एक कमीशन को एक रिपोर्ट भी लिखी जिसका शीर्षक था 'टुवर्ड्स अ कंपटीटिव फेडरलिज्म ।' यह बाद में यूरोपियन जर्नल ऑफ पॉलिटिकल इकॉनमी में प्रकाशित हुई। भारत में विद्वानों के बीच 'सहकारी संघवाद' को लेकर अलग किस्म का लगाव है, भले ही वह अस्तित्व में भी न हो । नियोजित विकास की रणनीति के दौर में यह खूब सुनने को मिलता था जब बाजार और राज्य सरकारों दोनों की संसाधनों के आवंटन में सीमित भूमिका हुआ करती थी। इसके अलावा लंबे समय तक देश में मौजूद रहे एक दलीय शासन ने राज्यों पर यह दबाव डाला कि वे केंद्र सरकार के आवंटन निर्णयों का पालन करें। एक तरह से देखें तो यह सहयोग का चरम रूप था जो दबाव बनने की सीमा पर पहुंच गया था। इसके दो प्रभाव हुए। सहमति बनाने के लिए दबाव का इस्तेमाल एकात्मक रुख है। जैसा कि राज चेलैया ने अपने एल के झा स्मृति व्याख्या में कहा, 'केंद्रीयकृत नियोजन में संघवाद का निषेध है। दूसरा शुरुआती वर्षों के दौरान एकदलीय शासन के दौर में अनौपचारिक व्यवस्था के जरिये सहमति कायम करने की व्यवस्था के चलते अंतरसरकारी सहयोग, सौदेबाजी और विवाद निपटारे की औपचारिक व्यवस्था नहीं कायम हो सकी।' यकीनन सहकारी संघवाद उन मामलों में उपयुक्त है जहां संबंधित पक्षों को लाभ हो रहा हो । परंतु जहां लाभ असमान हों या जहां कुछ को लाभ तथा अन्य को नुकसान हो वहां विभिन्न पक्ष केवल तभी सहयोग करेंगे जब अधिक लाभ अर्जित करने वाले कम लाभ पाने या नुकसान सहने वालों की भरपाई करें। इसके लिए मुक्त सूचना, और बातचीत, सौदेबाजी तथा विवाद निस्तारण की सुविधा प्रदान करने वाली व्यवस्थाओं और संस्थाओं की आवश्यकता होती है। यकीनन सहयोग के उदाहरण भी हैं मसलन, केंद्र और राज्यों द्वारा कई खपत करों को मिलाकर वस्तु एवं सेवा कर (जीएसटी) का निर्माण केंद्र और राज्य दोनों ने देखा कि एक राष्ट्रीय बाजार बनाने के आर्थिक लाभ भी हैं और भले ही राजस्व स्वायत्तता को हानि हुई लेकिन करों को इस प्रकार सुसंगत बनाने से मध्यम अवधि में राजस्व उत्पादकता में भी इजाफा होगा। इसके बावजूद सुधार प्रक्रिया को गति देने के लिए जीएसटी परिषद जो केंद्र और राज्यों की एक सहकारी संस्था है, का निर्माण किया गया। बहरहाल सुधार को लागू करने में एक अहम कारक था केंद्र सरकार द्वारा राज्यों को राजस्व नुकसान की भरपाई करने का वादा | ऐसा करके आधार वर्ष से हर वर्ष 14 फीसदी की वृद्धि सुनिश्चित की गई।

महामारी आने के बाद जब केंद्र सरकार ने समझौते की शर्तों को निरस्त किया तो राज्यों में भारी असंतोष फैल गया। इससे यह रेखांकित होता है कि जिन मामलों में सहकारी संघवाद व्यावहारिक है वहां भी संबद्धता के स्पष्ट निश्म, सूचना की निःशुल्क उपलब्धता और मजबूत व्यवस्थाएं और संस्थान जरूरी हैं ताकि समन्वित कदम उठाए जा सकें और विवादों को हल किया जा सके।

हम जितना सहकारी संघवाद की कामना करते हैं यह उतना ही मायावी नजर आता है और हमें अक्सर प्रतिस्पर्धा देखने को मिलती है। केंद्र और राज्यों के बीच आपसी अंतरसरकारी प्रतिस्पर्धा मौजूद है। जब राजनीतिक दल नियंत्रण हासिल करने के लिए एक दूसरे से जूझ रहे हों तो प्रतिस्पर्धा चुनावी हो सकती है। यह प्रतिस्पर्धा संसाधनों या राजकोषीय गुंजाइश की या फिर निवेश आकर्षित करने की भी हो सकती है। यहां तक कि प्रतिस्पर्धी संघवाद में भी प्रभावी लाभ केवल तभी मिल सकता है जब कुछ महत्वपूर्ण पूर्व शर्त हों। उदाहरण के लिए प्रतिस्पर्धी समानता और लागत लाभ उपयुक्तता।

यद्यपि संघ और राज्यों के बीच विषम शक्ति, 'प्रतिस्पर्धी समानता' को बनाए रखने को मुश्किल बनाती है। इस संदर्भ में निष्पक्ष और स्थिर संघीय भागीदारी के लिए प्रतिस्पर्धा को विनियमित करने, आक्रामक प्रथाओं से सुरक्षा करने और विवादों को हल करने के लिए भागीदारी के नियम, व्यवस्थाएं और संस्थान आवश्यक हैं।

अंतरसरकारी सहयोग, सौदेबाजी और विवाद निस्तारण के लिए औपचारिक व्यवस्था की अनुपस्थिति भारतीय संघ में एक अहम कमी है। सौहार्द की बढ़ती कमी, कटुता और अनियमित प्रतिस्पर्धा को देखते हुए ऐसे संस्थान की सख्त जरूरत है। केंद्र और राज्यों के बीच के संघर्ष तथा राज्यों के आपसी विवादों को न्यायपालिका को हल करना चाहिए लेकिन वह पहले ही काम के बोझ और देरी से जूझ रही है। राष्ट्रीय विकास परिषद है। लेकिन उसकी शायद ही कभी बैठक होती है और जब होती है तो कुछ खास निष्कर्ष नहीं निकल पाता।

जब योजना आयोग था तब वार्षिक योजनाओं पर चर्चा होती थी। हालांकि 1991 के बाद राज्यों की भागीदारी मोटे तौर पर अनुदान सुरक्षित करने तक सिमट गई। पहला प्रशासनिक सुधार आयोग 1966 में बना था और उसने यह अनुशंसा की थी कि एक अंतरराज्यीय परिषद बनाई जानी चाहिए। केंद्र राज्य संबंधों को लेकर 1983 में बने आर एस सरकारिया आयोग ने भी यह बात दोहराई। 63 वें संविधान संशोधन की मदद से अंतरराज्यीय परिषद का गठन किया गया लेकिन विडंबना ही है कि इसे केंद्रीय गृह मंत्रालय के अधीन कर दिया गया और इसे स्वतंत्र एवं निष्पक्ष भूमिका नहीं दी गई। केंद्र और राज्यों के बीच सामंजस्य की बढ़ती कमी तथा राज्य स्तर पर क्षेत्रीय दलों के नेतृत्व में गठबंधन सरकारों के उभार के बीच यह महत्त्वपूर्ण है कि अंतरसरकारी सहयोग, विनियमित प्रतिस्पर्धा तथा विवाद निस्तारण सुनिश्चित करने के लिए एक प्रभावी संस्थान का गठन किया जाए। विकसित भारत का लक्ष्य हासिल करने के लिए ऐसे संस्थान जरूरी हैं।

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date: 16-11-24

ग्रामीण क्षेत्रों को ऋण चक्र के जाल से मिले मुक्ति

तमाल बंद्योपाध्याय

भारत के एफएमसीजी क्षेत्र में जुलाई-सितंबर तिमाही में मूल्य के हिसाब से 5.7 प्रतिशत और कारोबार के हिसाब से 4.1 प्रतिशत की वृद्धि हुई है जो ग्रामीण क्षेत्रों की मांग की बदौलत संभव हुआ है। कंज्यूमर इंटेलिजेंस फर्म नील्सनआईक्यू ने हाल ही में अपनी तिमाही रिपोर्ट में यह जानकारी दी। लेकिन कई लोगों का मानना है कि भारत की ग्रामीण अर्थव्यवस्था में विशेष रूप से ग्रामीण क्षेत्र में ऋण का बढ़ता स्तर चिंता का विषय है। कुछ गैर-बैंकिंग वित्तीय कंपनियां (एनबीएफसी) ऐसी स्थिति के बावजूद दांव आजमाने की कोशिश करते हुए हालात को और जटिल बना रही हैं।

भारतीय रिजर्व बैंक (आरबीआई) ने 'दबाव देकर दिए जाने वाले ऋण' के बढ़ते मामले पर अब ध्यान देना शुरू किया है। ऐसे ऋणों की मार्केटिंग बेहद आक्रामक तरीके से ऐसे की जाती है कि ऋण लेने वाले इनके दीर्घकालिक वित्तीय परिणामों से वाकिफ नहीं हो पाते हैं।

ऋण संकट के मूल कारणों में से एक, देश के ग्रामीण क्षेत्र में रोजगार के पर्याप्त अवसरों का अभाव है। आर्थिक वृद्धि का लाभ भी पर्याप्त रूप से रोजगार सृजन में नहीं दिखा है, खासतौर पर गैर-कृषि क्षेत्रों में। ऋण की आसान पहुंच और चौबीस घंटे डिलिवरी सेवाओं के प्रसार से ग्रामीण क्षेत्रों में खपत की स्थिति बढ़ी है। लोगों को गैर-जरूरी वस्तुओं और सेवाओं के वास्ते ऋण लेने के लिए लुभाया जा रहा है जिससे वे और अधिक कर्ज के जंजाल में फंस रहे हैं। ग्रामीण क्षेत्रों के परिवार, रोजमर्रा की अपनी जरूरतों के लिए भी ऋण की राशि पर निर्भर हो रहे हैं।

ग्रामीण अर्थव्यवस्था में आय के स्रोत अनिश्चित हैं और यह मुख्य रूप से कृषि पर निर्भर है। यह अप्रत्याशित मॉनसून, जिंसों की उतार-चढ़ाव वाली कीमतों और बढ़ती इनपुट लागत से भी प्रभावित होती है। कुछ एनबीएफसी इस अंतर का फायदा उठा रहे हैं और रोजमर्रा की खपत के लिए ऋण अधिक ब्याज दरों पर देते हैं। इसमें ऋणों का रॉलओवर चक्र एक अहम हिस्सा है। इसका सबसे बड़ा संस्थागत उदाहरण फसल ऋण है। सरकार हर वर्ष, किसानों को फसल ऋण का वितरण करने के लिए बैंकों के लिए महत्त्वाकांक्षी लक्ष्य निर्धारित करती है। इन लक्ष्यों को पूरा करने के लिए बैंकों पर दबाव होता है जिसके कारण अक्सर ऋणों का वितरण तेजी से यह सुनिश्चित किए बिना ही कर दिया जाता है कि इनका उपयोग उत्पादक तरीके से किया जाएगा या नहीं। इस ऋण का इस्तेमाल उत्पादक कृषि निवेश के लिए किए जाने के बजाय, तत्काल जरूरतों को पूरा करने या पुराने ऋण का भुगतान करने के लिए किया जाता है जिससे ग्रामीण ऋण संकट गहरा जाता है।

अब यह प्रथा सामान्य एनबीएफसी के साथ-साथ माइक्रोफाइनैंस से जुड़े लोगों तक फैल गई है। वे ऋण का रॉलओवर कर रहे हैं, जिससे उधारकर्ताओं को और अधिक कर्ज में धकेला जा रहा है।

एनबीएफसी ने ग्रामीण क्षेत्रों में औपचारिक बैंकिंग क्षेत्र की सीमित पहुंच के कारण बनी अंतराल जैसी स्थिति को भरने के मकसद से यह कदम बढ़ाया है। हालांकि, उनकी ब्याज दरें अक्सर बैंकों द्वारा लगाए जाने वाली ब्याज दरों से कहीं अधिक होती हैं और यह ऋणकर्ताओं पर अतिरिक्त बोझ डाल रही हैं।

आरबीआई ने अधिक ब्याज दरों को लेकर चिंता जताई है खासतौर पर सूक्ष्म ऋणों के संदर्भ में। जब बैंकिंग नियामक ने मार्च 2022 में ब्याज दरों को मुक्त कर दिया, उसके बाद पिछले कुछ वर्षों से ऐसा हुआ है क्योंकि पहले ऋण दरें, फंड की लागत से जुड़ी हुई थी। एक बार जब इसे मुक्त कर दिया गया तब लगभग सभी सूक्ष्म ऋणदाताओं ने दरों में बढ़ोतरी की। शुरुआत में, यह बहाना दिया गया था कि कोविड की अवधि के दौरान हुए नुकसान की भरपाई करने के लिए कुछ और कमाई करने की जरूरत थी। इस वक्त ऐसा कोई बहाना नहीं है।

इत्तफाक से कुछ बैंक जिनकी सार्वजनिक जमाओं तक कम लागत के साथ पहुंच है वे भी एनबीएफसी की तुलना में कभी-कभी सूक्ष्म ऋण पर, उच्च ब्याज दर वसूल रहे हैं। अगर एनबीएफसी की जांच-पड़ताल उनके ब्याज दरों के लिए की जा रही है तब क्या इस लिहाज से बैंकों की जांच नहीं की जानी चाहिए? ग्रामीण क्षेत्रों में ऋण की लागत कर्ज लेने वाले की भुगतान क्षमता के मुकाबले गैर-आनुपातिक तरीके से बढ़ रही है जिसके चलते ऋण का चक्र और जटिल हो रहा है।

ग्लोबल डेवलपमेंट इन्क्यूबेटर (जीडीआई) की एक ताजा रिपोर्ट के मुताबिक ग्रामीण क्षेत्र के 50 प्रतिशत से अधिक लोगों की आमदनी का प्राथमिक स्रोत खेती है लेकिन इनमें से अधिकांश लोग बेहतर मौके पाने के लिए खेती छोड़ने के लिए तैयार हैं। ग्लोबल ऑपर्च्युनिटी यूथ नेटवर्क डेवलपमेंट इंटेलिजेंस यूनिट और ट्रांसफॉर्म रूरल इंडिया फाउंडेशन की साझेदारी से तैयार की गई, 'स्टेट ऑफ रूरल यूथ इंम्प्लॉयमेंट-2024' की रिपोर्ट में कहा गया है कि देश के ग्रामीण हिस्से में तकरीबन 5,000 लोगों का सर्वेक्षण किया गया जिनमें से 70-85 फीसदी लोगों का कहना है कि वे किसी विनिर्माण, रिटेल या कारोबारी क्षेत्र में नौकरी करना चाहते हैं। रिपोर्ट लॉन्च करते हुए भारत सरकार के मुख्य आर्थिक सलाहकार वी अनंत नागेश्वरन ने कहा, 'कृषि को वृद्धि का इंजन होना चाहिए और फिर से इसका चलन बढ़ना चाहिए।' गैर लाभकारी संस्थानों, उद्योग और अकादमिक जगत के लोगों को सहयोग कर इस क्षेत्र को रोजगार के लिहाज से व्यवहारिक विकल्प के तौर पर पेश करना चाहिए।

देश के ग्रामीण क्षेत्र में बढ़ते ऋण के संकट को लेकर कुछ बातों पर ध्यान देने की आवश्यकता है और इसके लिए विचार करने के लिए कुछ प्रमुख मुद्दों पर ध्यान देना जरूरी है।

- **रोजगार सृजन:** उपभोग की जरूरतों को पूरा करने के लिए ऋण पर अपनी निर्भरता कम करने के लिए रोजगार के टिकाऊ अवसर तैयार करने की जरूरत है।

- **ऋण उपयोगिताः** ऋण वितरण के बड़े लक्ष्य तय करने के बजाय सरकार और वित्तीय संस्थानों को यह सुनिश्चित करने पर ध्यान देना चाहिए कि ऋणों का इस्तेमाल विशेषतौर पर कृषि में बेहद उत्पादक तरीके से किया जाता है।

- **ब्याज दरों का नियमन:** आरबीआई को यह सुनिश्चित करने की जरूरत है कि एनबीएफसी और बैंक, किफायती ब्याज दरों पर ऋण की पेशकश करें |

- **जागरूकता और वित्तीय साक्षरताः** ग्रामीण ऋणकर्ताओं को अधिक ऋण लेने के नतीजे और वित्तीय योजना की अहमियत के बारे में जागरूक करने की जरूरत है।

अगर इन मसलों का हल व्यापक तरीके से नहीं किया जाता है तब ग्रामीण क्षेत्र की ऋण वृद्धि जारी रह सकती है और इसके दूरगामी आर्थिक और सामाजिक परिणाम हो सकते हैं। ऐसे में ग्रामीण क्षेत्र के इस संकट के समाधान पर विचार करने की आवश्यकता है।

राष्ट्रीय सहारा

Date: 16-11-24

शिक्षा में अड़ंगे

संपादकीय

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने एमफिल या पीएचडी डिग्री कोर्सेज को ओपन या डिस्टेंस या ऑनलाइन मोड से चलाने पर प्रतिबंध लगा दिया है। मेडिकल, इंजीनियरिंग समेत 18 कोर्सेज को भी ओपन डिस्टेंस मोड या ऑनलाइन मोड से चलाने पर रोक लगा दी है। फीजियोथेरेपी, फार्मेसी, नर्सिंग, डेंटल, आर्किटेक्चर, कानून, कृषि, हॉर्टिकल्चर, होटल प्रबंधन, कैटरिंग, पाक विज्ञान, दृश्य कला, योगा जैसे कोर्स अब ऑनलाइन या डिस्टेंस से नहीं चलाए जा सकेंगे। डॉक्टर ऑफ फिलॉसफी या मास्टर ऑफ फिलॉसफी उन्नत शोध डिग्री योग्यता हैं। उच्चतम शिक्षा पाने वाले चुनिंदा छात्र ही इन अति विशिष्ट कोर्स तक पहुंचते हैं। सरकार ने दूरदराज या अन्य क्षेत्रों में व्यस्त छात्रों के लिए घर से बैठ कर ये शिक्षा लेने की व्यवस्था की थी। मगर विश्वविद्यालयों की धांधली या निरंतर मिलने वाली शिकायतों के चलते यूजीसी को सख्त निर्णय लेने पड़ते हैं । प्रति वर्ष तमाम विश्वविद्यालयों को प्रतिबंधित करने या पाबंदियां लगाने संबंधी नोटिस जारी करता रहता है। कहना गलत नहीं है कि कुछ जरूरतमंद और उच्चतम शिक्षा प्राप्त करने को इच्छुक छात्रों को इससे असुविधा भी हो सकती है। आर्थिक तौर पर कमजोर वर्ग के ढेरों विद्यार्थी हैं, जो कोई रोजगार या नौकरी करते हुए अतिरिक्त शिक्षा प्राप्त करने के लिहाज से ओपन या ऑनलाइन कोर्स में दाखिला लेने को मजबूर होते हैं। ऐसे जरूरतमंदों के लिए भी आयोग को रास्ता सुझाना चाहिए। आयोग का काम मान्यता की जांच करने की सलाह पर ही खत्म नहीं हो जाता । उसे सख्तीपूर्वक ऐसे किसी भी विश्वविद्याल पर पूर्ण प्रतिबंध लगाना चाहिए क्योंकि इससे न केवल छात्रों का भविष्य चौपट होता है। बल्कि उनका बहुत सारा पैसा भी बर्बाद हो जाता है। विज्ञापनों द्वारा ऐसे संस्थान जब प्रचार कर रहे होते हैं, उसी वक्त इन पर कार्रवाई की जानी चाहिए। दूसरे, दुनिया जब तकनीक और संचार व्यवस्था द्वारा शिक्षा को सुविधाजनक बना रही हैं, ऐसे में विवि की लापरवाही का खमियाजा छात्रों को भुगतने से बचाना भी आयोग का ही जिम्मा है।

Live हिन्दुस्तान .com

Date: 16-11-24

जनजातीय गौरव

संपादकीय

देश भर में जनजातीय गौरव दिवस का आयोजन सुखद और स्वागतयोग्य है। प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने महान स्वतंत्रता सेनानी बिरसा मुंडा की 150वीं जयंती पर झारखंड की सीमा से लगे बिहार के जमुई जिले में एक सभा को संबोधित करने के साथ ही 6,000 करोड़ रुपये से अधिक की आदिवासी कल्याण परियोजनाओं की शुरुआत की है। बिरसा मुंडा को देश के एक बड़े क्षेत्र में भगवान की तरह माना जाता है। और उनकी जयंती को जनजातीय गौरव दिवस के रूप में मनाने का फैसला वाकई सराहनीय है। जिस देश में 700 से अधिक जनजातीय समूहों के दस करोड़ से ज्यादा लोग रहते हों, वहां ऐसे प्रेरक आयोजनों के महत्व को बखूबी समझा जा सकता है। कोई दोराय नहीं है कि जनजातीय समूहों ने अपने संरक्षण और सुरक्षा के लिए सतत संघर्ष किया है। देश की आजादी के समय उनके विकास की रफ्तार अपेक्षाकृत धीमी थी, पर विगत वर्षों में विभिन्न योजनाओं के माध्यम से उनके विकास में आई तेजी को नजरंदाज नहीं किया जा सकता। देश के विकास में इतनी बड़ी आबादी का पूरा योगदान लेने के लिए उसे और पुरजोर ढंग से मुख्यधारा में लाना समय की जरूरत है।

बेशक, यह उम्मीद रखनी चाहिए कि 6,000 करोड़ रुपये से ज्यादा के बजट का सही उपयोग होगा। प्रधानमंत्री ने अपने भाषण में उचित ही | रेखांकित किया है कि एक समय आदिवासी बहुल जिलों में अधिकारियों को बतौर सजा नियुक्ति दी जाती थी। इस रवैये में अब बदलाव आया है, सक्षम अधिकारियों को ऐसे जिलों में लगाया जा रहा है और इनको आकांक्षी जिले कहा जा रहा है। आदिवासी बहुल जिलों में वाकई तमाम बुनियादी योजनाओं को जमीन पर साकार करने की जरूरत है। प्रधानमंत्री ने आदिवासियों के साथ होने वाली राजनीति को भी रेखांकित किया है, तो आश्चर्य नहीं। वास्तव में, आदिवासी इस देश की मुख्यधारा को ही मजबूत करते रहे हैं। देश के संसाधनों और संस्कृतियों को बचाने में उनका अनुपम योगदान है। पूर्वोत्तर के राज्यों में आदिवासियों की बेहतर स्थिति है, पर महाराष्ट्र, झारखंड, छत्तीसगढ़, मध्य प्रदेश जैसे राज्यों में बहुत काम की जरूरत है। गौर करने की बात है कि मध्य प्रदेश में देश के 14 प्रतिशत से ज्यादा और महाराष्ट्र में देश के 10 प्रतिशत से ज्यादा आदिवासी रहते हैं। ध्यान रहे, गुजरात जैसे अपेक्षाकृत विकसित राज्य में भी देश के आठ प्रतिशत से ज्यादा और ओडिशा जैसे अपेक्षाकृत पिछड़े राज्य में नौ प्रतिशत से ज्यादा आदिवासी रहते हैं। कुछ आदिवासियों की आर्थिक-सामाजिक स्थिति सुदृढ़ हो गई है, पर ज्यादातर आदिवासियों तक बुनियादी सुविधाओं को पूरी तरह से पहुंचाने का कार्य शेष है।

भूलना नहीं चाहिए, जनजातीय विकास सरकार ही नहीं, पूरे समाज की जिम्मेदारी है, पर स्वयं इस समाज को पहले की तुलना में ज्यादा सजग रहना होगा। जनजातीय समाज से आने वाले जन प्रतिनिधियों की सर्वाधिक जिम्मेदारी है। पूर्वोत्तर में जनजातीय समाजों के बीच आक्रामकता चिंता जगाती है। संविधान सभा में भी यह चर्चा हुई थी और माना गया था कि जैसे-जैसे शिक्षा का प्रसार होगा, समाजों में | समझदारी और सद्भाव की शक्ति बढ़ेगी। निस्संदेह, अनावश्यक राजनीति से भी बचना होगा। यह बहुत प्रेरक बात है कि देश के सर्वोच्च पद पर आज एक जनजातीय महिला द्रौपदी मुर्मु विराजमान हैं, यहां से | जनजातीय समाज को पीछे मुड़कर नहीं देखना चाहिए।